

# योग का मूल भी वेद ही है



(कॉनरेड एल्स्ट (Konared Elst) महोदय योगरूपी वृक्ष के पत्ते ही गिनते रह गए। उसकी जड़ जो वेदों तक जाती है, उसे पहचान ही नहीं पाए।)

सृष्टि के आदिकाल से मनुष्य वेदोक्त योगविधि से ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करता आया है। स्वामी दयानन्द ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करते हुए हर व्यक्ति को योगाभ्यासी बनने की प्रेरणा देते थे। वर्तमान काल में योग विषयक अनेक भ्रांतियां वेदों के सत्य सन्देश के प्रचार की कमी के चलते प्रचलित हो रही हैं। ऐसी ही एक भ्रान्ति कॉनरेड एल्स्ट (ज्ञब्छत्।।क् म्स्ैज्) (बेल्जियम निवासी लेखक) द्वारा प्रसारित हुई है जो हमारे समक्ष प्रस्तुत हुई है।

प्रायः हर विदेशी लेखक संस्कृत से अनभिज्ञ होता है, इसलिए वह विदेशी अन्य लेखकों द्वारा अंग्रेजी में लिखित पुस्तकों पर निर्भर होता है। इन पुस्तकों के अधिकचरे विवरण प्रायः सत्य से दूर होते हैं और खास करके आज के नवबौद्ध इनके बहुत ढोल पीटते हैं। लेखक की योग विषयक हास्यास्पद रिसर्च पर एक दृष्टि डालिये-

‘Around the middle of the first millennium BCE“means that yoga does not predate the age of the Buddha. Anything of value should be denied to Hinduism, and if it exists, it has to be borrowed from „another religion“, viz. Buddhism. In reality, the Buddha himself already learned at the feet of several yoga teachers, who in turn did not claim to be innovative.’

अर्थात् ईसा से एक शताब्दी पूर्व बुद्ध के काल से पहले योग का प्रचार नहीं था। जो भी योग विषय में उपलब्ध था वह हिन्दुओं ने बुद्ध से ग्रहण किया। बुद्ध ने अनेक योगियों के चरणों में बैठकर योग सीखा जो यह कभी नहीं कहते थे कि योग उनका आविष्कार है।

एल्स्ट महोदय योग रूपी वृक्ष के पत्ते ही गिनते रह गए। उस वृक्ष की जड़ जो वेदों तक जाती है, उसे पहचान ही नहीं पाए। वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। अन्य विद्याओं की तरह योग का उद्भव भी वेदों से हुआ है। प्रमाण देखिये-

योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे।

सखायऽइन्द्रमृतये ॥ -यजु0 11/14

अर्थात् बार-बार योगाभ्यास करते और बार-बार मानसिक और शारीरिक बल बढ़ाते हुये हम सब परस्पर

मित्रभाव से युक्त होकर अपनी रक्षा के लिये अनन्त बलवान्, ऐश्वर्यशाली ईश्वर का ध्यान करते हैं। उसी से सब प्रकार की सहायता मांगते हैं।

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।

अग्नेज्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्याऽअध्याभरत् ॥11/1

अर्थात् जो पुरुष योगाभ्यास और भूगर्भविद्या किया चाहे, वह यम आदि योग के अङ्ग और क्रिया-कौशलों से अपने हृदय को शुद्ध करके तत्त्वों को जान, बुद्धि को प्राप्त और इन को गुण, कर्म तथा स्वभाव से जान के उपयोग लेवे।

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।

स्वग्र्याय शक्त्या।-यजुर्वेद 11/2

अर्थात् जो मनुष्य परमेश्वर की इस सृष्टि में समाहित हुए योगाभ्यास और तत्त्वविद्या को यथाशक्ति सेवन करें, उनमें सुन्दर आत्मज्ञान के प्रकाश से युक्त हुए योग और पदार्थविद्या का अभ्यास करें, तो अवश्य सिद्धियों को प्राप्त हो जावें।

युक्त्वाय सविता देवान्स्वग्र्यतो धिया दिवम्।

बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥ यजुर्वेद 11/3

अर्थात् जो पुरुष योग और पदार्थविद्या का अभ्यास करते हैं, वे अविद्या आदि क्लेशों को हटानेवाले शुद्ध गुणों को प्रकट कर सकते हैं। जो उपदेशक पुरुष से योग और तत्त्वज्ञान को प्राप्त हो के ऐसा अभ्यास करे, वह भी इन गुणों को प्राप्त होवे।

युजे वां ब्रह्म पूत्र्यं नमोभिर्वि श्लोकऽएतु पथ्येव सूरैः।

शृण्वन्तु विश्वेऽअमृतस्य पुत्राऽआ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।-यजुर्वेद 11/5

अर्थात् योगाभ्यास के ज्ञान को चाहने वाले मनुष्यों को चाहिये कि योग में कुशल विद्वानों का सङ्ग करें। उनके सङ्ग से योग की विधि को जान के ब्रह्मज्ञान का अभ्यास करें। इस प्रकार से वेद में अनेक मन्त्र 'योग' विषय पर प्रकाश डालते हैं।

द्वितीय महर्षि पतंजलि द्वारा वर्णित अष्टाङ्ग योग के आठ अङ्ग ब्रह्मरूपी सर्वोच्च शिखर पर चढ़ने के लिए आठ सीढ़ियाँ हैं। उनका मूल भी वेद ही है। उनके नाम हैं- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

1- यम पाँच हैं-

(1) अहिंसा- अहिंसा का अर्थ केवल किसी की हत्या न करना ही नहीं अपितु मन, वचन और कर्म से किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार कष्ट न देना, किसी को हानि न पहुंचाना और किसी के प्रति वैरभाव न रखना अहिंसा है।

वेद अनेकत्र अहिंसा का सन्देश देते हैं- मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।-यजुर्वेद 36/18 अर्थात् हम सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखें।

(2) सत्य- सत्य द्वितीय यम है। साधक मन, वचन और कर्म से सत्य जाने, सत्य माने, सत्य बोले और सत्य ही लिखे, मिथ्या-असत्य न बोले, न मिथ्या व्यवहार ही करे। वेद सत्य के विषय में कहते हैं-इदं

अहमनृतात्सत्यमुपैमि ।' -यजु0 1/5 अर्थात् मैं असत्य को त्याग कर जीवन में सत्य को ग्रहण करता हूँ।

(3) अस्तेय- यमों में तीसरा यम है- अस्तेय। स्तेय का अर्थ है चोरी करना। अस्तेय का अर्थ है- मन, वचन और कर्म से चोरी न करना। साधक चोरी न करे, सत्य व्यवहार करे। स्वामी की आज्ञा के बिना किसी पदार्थ का उपयोग न करे। वेद अस्तेय की शिक्षा देते हुए कहते हैं-'मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।' यजु0 40/1 अर्थात् किसी के धन का लालच मत कर।

(4) ब्रह्मचर्य- ब्रह्मचर्य दो शब्दों के मेल से बना है-ब्रह्म और चर्य। ब्रह्म का अर्थ है- ईश्वर, वेद, ज्ञान और वीर्य। चर्य का अर्थ है चिन्तन, अध्ययन, उपार्जन और रक्षण। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का अर्थ होगा-साधक ईश्वर का चिन्तन करे, ब्रह्म में विचरे, वेद का अध्ययन करे, ज्ञान का उपार्जन करे और वीर्य का रक्षण करे।

वेद कहते हैं -'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।' -अथर्व0 11/5/19 अर्थात् ब्रह्मचर्य और तप के द्वारा विद्वान् मौत को भी मार भगाते हैं।

(5) अपरिग्रह- अपरिग्रह का अर्थ है-आवश्यकता से अधिक पदार्थों का संग्रह न करना। साधक उतने ही पदार्थों का संग्रह करे जितने सादा जीवन के लिए आवश्यक हैं। किसी भी वस्तु को क्रय करने से पहले गम्भीरतापूर्वक सोच लो। यदि उनके बिना काम न चलता हो तभी खरीदो। वेद अपरिग्रह का सन्देश देते हुए कहते हैं कि- 'शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर। -अथर्व0 3/24/5 अर्थात् सौ हाथों से कमाओ, हजार हाथ से दान करो।

2- नियम भी पांच हैं-

(1) शौच- शौच का अर्थ है पवित्रता। साधक अन्दर और बाहर से पवित्र रहे। राग-द्वेष के त्याग से आन्तरिक और जलादि के द्वारा बाह्य शुद्धि सम्पादित करनी चाहिए। शरीर की दशा का मन पर बहुत प्रभाव पड़ता है, अतः शरीर को स्नानादि से पवित्र करना चाहिए। वेशभूषा व रहने का स्थान भी साफ-सुथरा हो। वेदानुकूल मनुस्मृति में कहा है-

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।

विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति। -मनुस्मृति 5/109

अर्थात् जल से शरीर के बाहर के अवयव, सत्य आचरण से मन ; विद्या और तप अर्थात् कष्ट सहकर भी धर्म अनुष्ठान से आत्मा तथा ज्ञान अर्थात् पृथ्वी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के विवेक से बुद्धि शुद्ध होती है।

(2) सन्तोष- सन्तोष का अर्थ बहुत गलत समझा गया है। सन्तोष का अर्थ हाथ पर हाथ रखकर निठल्ला बैठना नहीं है। सन्तोष का अर्थ है- आलस्य छोड़कर सदा पुरुषार्थ करना। धर्मपूर्वक पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिये। वेद के अनेक मन्त्रों के पीछे 'स्वाहा' पद आता है। जैसे यजुर्वेद 32/14 मन्त्र में मेधाविनं कुरु 'स्वाहा' आया है। 'स्वाहा' पद का अर्थ निरुक्त के अनुसार स्वं प्राहेति बनता है। जिसका अर्थ स्वामी दयानन्द ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में करते हैं कि- जितना-जितना धर्मयुक्त पुरुषार्थ से पदार्थ प्राप्त हो, उतने ही में सदा संतोष करें। इससे स्वाहा शब्द के अर्थ में संतोष का मूल सन्देश विद्यमान है।

(3) तप-तप का वास्तविक अर्थ है-'द्वन्द्वसहनं तपः'-कष्ट आने पर भी धर्मकार्यों को करते जाना तप है।

हानि-लाभ, जीवन-मरण, सुख-दुःख, भूख-प्यास, हर्ष-शोक में सम रहने का नाम तप है। वेद में कहा है- अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते। -ऋ० १/८३/१ अर्थात् जिसने तप की भट्टी में अपने शरीर को तपाया नहीं है, ऐसा कच्चा व्यक्ति उस प्रभु को नहीं पा सकता।

(4) स्वाध्याय-स्वाध्याय का अर्थ है-वेद का अध्ययन-अध्यापन और ऋषि-मुनियों द्वारा लिखित सत्यशास्त्रों को पढ़ना-पढ़ाना। वेद परमात्मा का दिव्यज्ञान है। यह मानव-कर्तव्यों का बोधक शास्त्र है, ज्ञान और विज्ञान का अगाध भण्डार है। अपने कर्तव्यों के ज्ञान हेतु वेद का स्वाध्याय करना ही चाहिए।

स्वाध्याय का एक और अर्थ है-प्रतिदिन परमात्मा के सर्वोत्तम नाम 'ओ३म्' का अर्थपूर्वक जप करना। वेद में कहा है- ओ३म् क्रतो स्मर। -यजु० 40/15 अर्थात् हे कर्मशील जीव! तू ओ३म् का स्मरण कर और 'ओ३म् प्रतिष्ठ' -यजु० २/१३ अर्थात् तू ओ३म् में प्रतिष्ठित हो जा अथवा ओ३म् को=ओ३म् नामक परमात्मा को अपने हृदय-मन्दिर में बिठा ले।

°

(5) ईश्वरप्रणिधान- ईश्वर प्रणिधान के दो अर्थ हैं-एक, बिना किसी इच्छा, आकांक्षा और मांग के अपने-आपको, अपने सब कामों को, अपने सब संकल्पों को प्रभु को समर्पित कर देना। जो परमात्मा से कुछ मांगते हैं, उन्हें तो प्रभु केवल वही वस्तु देता है, जो वे मांगते हैं, परन्तु जो कुछ नहीं मांगते, उन्हें परमेश्वर सब-कुछ देता है। और अन्त में अपने आपको भी दे देता है, अपना साक्षात् भी करा देता है। दूसरा अर्थ है-हृदय में ईश्वर का प्रेम रखते हुए, ईश्वर की विशेष भक्ति या उपासना करते हुए ईश्वर की कृपा, दया और प्रसन्नता का पात्र बनना।

वेद में कहा है- यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा। यस्मै देवाः सदा बलिं प्रयच्छन्ति विमितेऽमितं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्वदेव सः। अथर्व० 10/7/39

अर्थात् देव लोग अपने हाथों, पैरों, श्रोत्र और चक्षु आदि की शक्तियों को तथा इनके द्वारा किये गये कर्मों तथा उपार्जनो को सम्पूर्ण रूप में महादेव के प्रति भेंट रूप में समर्पित कर देते हैं। यह उच्च कोटि का समर्पण ही ईश्वर प्रणिधान कहलाता है।

3. आसन : यह योग का तीसरा अंग है। शरीर न हिले, न डुले, न दुखे और चित्त में किसी प्रकार का उद्वेग न हो, ऐसी अवस्था में दीर्घकाल तक सुख से बैठने को आसन कहते हैं। यजुर्वेद में कहा है- स्थिरो भव वीड्वङ्ग ॥ 11/44

4 प्राणायाम : प्राणायाम योग का चौथा अङ्ग है। प्राण और मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जहां-जहां प्राण जाता है, वहाँ-वहाँ मन भी जाता है। यदि प्राण वश में हो जाए तो मन बिना प्रयास के स्वयं वश में हो जाता है।

वेद में कहा है-

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः ।

रोचन्ते रोचना दिवि ॥ ऋग्वेद 1/6/1 अर्थात् सब पदार्थों की सिद्धि का मुख्य हेतु जो प्राण है उसको प्राणायाम की रीति से अत्यन्त प्रीति के साथ परमात्मा में युक्त करते हैं।

5: प्रत्याहार- मन को एक लक्ष्य पर एकाग्र करने के लिए उसे बाह्य विषयों से समेटने का नाम प्रत्याहार है। बाह्य विषयों से हटने पर ही मन को ध्यान-लक्ष्य पर केन्द्रित किया जा सकता है।

प्रत्याहार वह महान् कुंजी है जो द्वारणा, ध्यान और समाधि के द्वारों को खोल देती है। ऋग्वेद 7/11/1 में आया है- न ऋते त्वदमृता मादयन्ते ॥ अर्थात् तेरे बिना मुक्त आत्मा आनन्दित नहीं होते। परमेश्वर में अवस्थित होकर जीवात्मा अपने आपको भूल जाता है और आनंद में भरकर कह उठता है- तू मैं और मैं तू हूँ। यह अवस्था बाह्य इन्द्रियों को समेटने की क्रिया के पश्चात् ही होती है।

6: धारणा- धारणा का अर्थ है-मन को एकाग्र करना, मन को किसी एक विषय पर केन्द्रित करना। वेद कहते हैं-यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तद् सुप्तस्य तथैवैति। दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।

यजुर्वेद 34/1 अर्थात् वेद जाग्रत ही नहीं अपितु सुषुप्त अवस्था में भी मन को शुभ संकल्प वाला बनाने का सन्देश देते हैं। यह शुभ संकल्प केवल एकाग्र मन में ईश्वर द्वारा ही स्थापित हो सकता है।

7- ध्यान- धारणा की परिपक्वता का नाम ही ध्यान है। धारणा में प्रत्यय-ज्ञान का एक-सा बना रहना ही ध्यान है। जिस स्थान पर चित्त को एकाग्र किया गया है, उस एकाग्रता का ज्ञान तैलद्वारावत् निरन्तर एक-सा बना रहे और उस समय अन्य किसी प्रकार का ज्ञान या विचार चित्त में न आने पाए, इस अवस्था को ही ध्यान कहते हैं।

वेद कहते हैं-सीरा युजन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक्। धीरा देवेषु सुम्नया। यजुर्वेद 12/67 अर्थात् जो विद्वान् योगी लोग और (धीरा) ध्यान करने वाले हैं, वे यथायोग्य विभाग से नाड़ियों में अपने आत्मा से परमेश्वर की धारणा करते हैं।

8: समाधि- निरन्तर अभ्यास और वैराग्य में सम्यक् अवस्थिति होने से एकाग्रता बढ़ती है तथा अखण्ड क्रम से गतिमान् रहती है, फिर अन्ततः प्रगाढ़ ध्यान में निमग्न होने की अवस्था आती है, जो राज-योग की आठवीं अवस्था है। इसी को समाधि कहते हैं।

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।

तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥

-अथर्व 10/2/31

भावार्थ:- आठ चक्रोंवाली, नौ इन्द्रियाँ- द्वारोंवाली इस शरीररूप अयोध्या नामक देवनगरी में एक ज्योतिर्मय मनोमय कोश है, जो आह्लाद व प्रकाश से परिपूर्ण है। इसे हम राग-द्वेष से मलिन न करें। इसी कोष में आत्मा विद्यमान है। इसी हृदय कोष में आत्मा का परमात्मा से मिलन होता है। यह मिलन समाधि अवस्था में ही होता है।

इस प्रकार से यह सिद्ध होता है कि योग का उद्गम वेदों से है।

(शांतिधर्मी मासिक, हिंदी पत्रिका, जुलाई, 2020 अंक से साभार।)